वर्ष-6 अंक-2 अप्रैल-जून, 2016 मूल्य - ₹25

हिन्दी काव्य की संग्रहणीय त्रैमासिक पत्रिका

पारस परस

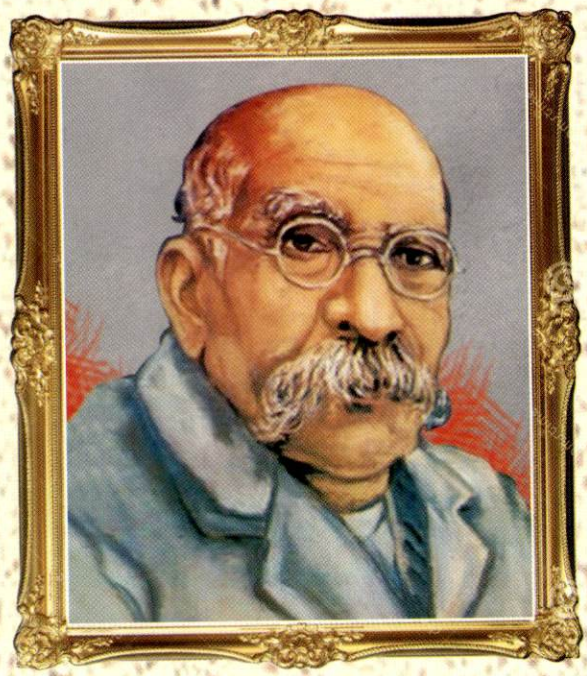

महावीर प्रसाद द्विवेदी

जन्म- 1864 निधन-21 फरवरी, 1938

चाहै कुटी अति घने बन में बनावै,
चाहै बिना नमक कुत्सित अन्न खावै।
चाहै कभी नर नए पट भी न पावै,
सेवा प्रभो! पर न तू पर की करावै।।

सेवा समान अति दुस्तर-दुःखदायी,
दुर्वृत्ति और अवलोकन में न आई।
जीना कभी न उसका जग में भला है,
जो पेट-हेत पर-सेवन को चला है।।

वर्ष : 6 अंक : 2 अप्रैल-जून, 2016 रजि. नं. : यूपी एचआईएन/2011/39939

पारस परस

हिन्दी काव्य की समस्त विधाओं की संग्रहणीय त्रैमासिक पत्रिका

संरक्षक मंडल
डा. एल.पी. पाण्डेय
अभिमन्यु कुमार पाठक
अरुण कुमार पाठक

संपादक
डॉ अनिल कुमार

कार्यकारी संपादक
सुशील कुमार अवस्थी

संपादकीय कार्यालय
538 क/1324, शिवलोक
त्रिवेणी नगर तृतीय, लखनऊ
मो. 9935930783
Email: paarasparas.lucknow@gmail.com

लेआउट एवं टाइप सेटिंग
अभ्युदय प्रकाशन प्रा.लि.
लखनऊ
मो. 9696433312

स्वामी प्रकाशक मुद्रक एवं संपादक डा. अनिल कुमार द्वारा प्रकाश पैकेजर्स, 257, गोलागंज, लखनऊ से मुद्रित कराकर सी-49, बटलर पैलेस कालोनी, जापलिंग रोड, लखनऊ से प्रकाशित

पारस परस में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबंधित रचनाकारों के हैं। संपादक अथवा प्रकाशक का रचनाओं में व्यक्त विचारों से सहमत होना आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद लखनऊ न्यायालय के अधीन होंगे। उपरोक्त सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

घर क जोगी जोगड़ा, आनगाँव क सिद्ध		2

श्रद्धासुमन

बाबू जी, अब करो न देर	डा. अनिल कुमार पाठक	4

कालजयी

किसान	पारसनाथ पाठक 'प्रसून'	5
भारत वर्ष	महावीर प्रसार द्विवेदी	6
नदी का रास्ता	बालकृष्ण राव	7
काँटे कम से कम मत बोओ	रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	9

समय के सारथी

बुलन्दी आसमानों की	कमलेश भट्ट कमल	10
चिड़िया	शिव कुमार पराग	11
पांचाली	डा महेन्द्र प्रताप सिंह	12
क्या होगा	शारदा प्रसाद शर्मा 'शारदेन्दु'	13
मन भरा है पीर से,खाली नहीं है	–आर्य भूषण गर्ग	14
कितनी सुन्दर है	बैजनाथ गुप्त 'ब्रजेन्द्र'	15
हिमपात	सिद्धेश्वर पाण्डेय	16
नवीन हुए	नरेन्द्र मिश्र	17
दिगम्बर	अशोक वाजपेयी	18
एक मन्दिर की कथा	अरुण कमल	19

कलरव

कोकिल	महावीरप्रसाद द्विवेदी	20
हम हैं किशोर	राम स्वरूप दूबे	21

नारीस्वर

अमीर	अनीता वर्मा	22
सांध्य–दीप	श्रीमती प्रतिभा पुरोहित	23
सूखती नदी के बीच	प्रभा मजूमदार	24
पुरखों की वसीयत	प्रो. मालती दुबे	25
माँ तू निराश न होना	श्रीमती नुकफांगटी जमातिया	26
क्या है?	श्रीमती अंजना जमातिया	27
हमारा भारत	झील दीक्षित	28
प्रकृति	पलक अग्रवाल	29
सुन्दर अपना संसार	ऊषा मिश्रा	30
मातृत्व	विद्या तिवारी	31
समुद्र और उपहार	मृदुला शुक्ल	32
जीवन क्या है	डा अमिता दुबे	33
नायिका	अर्चना झा	34
खुशी, पराई	चन्द्रलेखा सिंह	35

नवोदित रचनाकार

मेरा देश तुम्हें नमस्कार	मनोहर कुमार झा	36
सागर तभी उछलता है	प्रीतम सिंह राही	37
जीवन दृष्टि	सुनीत गोस्वामी	38
अद्वितीय युग्म	श्रीराम वर्मा	39
पुनर्जीवन	विमल कुमार	40

घर क जोगी जोगड़ा, आन गाँव क सिद्ध

बचपन में एक बार मैंने अपनी माँ को एक कहावत कहते हुए सुना था कि ''घर क जोगी जोगड़ा, आन गाँव क सिद्ध''। यह कहावत एक प्रसंग के दौरान कही गयी थी, जो इस प्रकार था। मेरे पिता जी, बाबा जी अपना कुर्ता गाँव के ही दिलदार बाबा से सिलाते थे। दिलदार बाबा सिलाई के काम में निपुण थे। वैसे तो वे कई तरह के पहनावे को कुशलता से बना लेते थे लेकिन कुर्ता व शेरवानी की सिलाई के लिये पूरे इलाके में मशहूर थे। दूर–दूर से लोग उनसे विशेषरूप से कुर्ता सिलवाने के लिये आते थे। एक बार, मेरे एक चाचा जी अपने लिये कुर्ता सिलवाने शहर जाना चाह रहे थे जबकि पिता जी का मानना था कि जब गाँव में ही इतने कुशल कारीगर उपलब्ध हैं तो फिर इसी काम के लिये शहर जाने की क्या जरूरत है ? इसी को लेकर चाचा जी व पिता जी में तर्क–वितर्क चल रहा था तभी माँ घर के अन्दर से दरवाजे पर आ गईं। थोड़ी देर तक तो वे उन दोनों की बातें सुनती रहीं। जब सारी बात उनकी समझ में आ गयी तो उन्होंने उक्त कहावत को उद्धृत करने के साथ अपना विचार रखते हुये चर्चा का पटाक्षेप करा दिया। चाचा जी शहर चले गये, पिता जी व माता जी भी अपने–अपने काम में व्यस्त हो गये।

मैं उस वक्त तो उक्त कहावत का मतलब एवं संकेतार्थ नहीं समझ पाया था परन्तु समय बीतने के साथ ही इसके सारे निहितार्थ पूरी तरह समझ गया। एक साहित्यिक चर्चा के दौरान पुनः उक्त कहावत का स्मरण हो आया।

वस्तुतः उस दिन कई साहित्यिक मित्र विभिन्न देशी–विदेशी भाषाओं के साहित्यकारों के योगदान एवं उनकी श्रेष्ठता पर चर्चा कर रहे थे। इसी दौरान एक मित्र, जो कतिपय विदेशी भाषाओं के साहित्य के प्रशंसक थे और उन्हें हिन्दी सहित विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य की अपेक्षा श्रेष्ठतर मानते थे, ने एक भौंडा वक्तव्य दे डाला कि हिन्दी साहित्य की उपलब्धियाँ नगण्य सी हैं, साथ ही अन्य विदेशी भाषाओं के साहित्यकारों के सामने इसके साहित्यकार कहीं नहीं टिक पाते हैं। कतिपय मित्रों द्वारा उनके इस कथन पर आपत्ति व्यक्त की गयी और कुछ ने तो उन्हें ऐसी अप्रामाणिक बात के लिये भला–बुरा भी कहा। विवाद को बढ़ता देखकर सुखद माहौल में प्रारम्भ हुई साहित्यिक चर्चा दुखद अन्त के साथ बीच में ही रुक गयी। सभी अपने–अपने गन्तव्य को चले गये। उन सभी के जाने के बाद मैं सोचता रहा है कि क्या भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों, विशेषतया हिन्दी भाषा के साहित्यकारों में कोई, गैर भारतीय व हिन्दी भाषा के साहित्यकार–कवि, नाटककार, उपन्यासकार, निबन्धकार आदि के समकक्ष या उनसे श्रेष्ठ नहीं हुआ है ?यद्यपि मैं ऐसी तुलना का पक्षधर नहीं हूँ क्योंकि ऐसी तुलनाओं के वक़्त हम यह भूल जाते हैं कि विभिन्न साहित्यकारों, विशेषतया जब वे भिन्न भाषा, क्षेत्र (समाज) व युग (कालावधि) से सम्बन्धित हों, के सृजन की परिस्थितियाँ, परिवेश, विषयवस्तु

आदि भिन्न–भिन्न होती हैं। कहा जाता है कि ''साहित्य समाज का दर्पण है'' तो निश्चित रूप से भिन्न–भिन्न समाजों के संदर्भ में सृजित साहित्य में भी कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य रहेगी। इन कारणों से हम उनकी सही तुलना नहीं कर सकते।

उक्त के बावजूद, यदि हम भारत के प्राचीन साहित्य यथा संस्कृत भाषा के रामायण व महाभारत जैसे ग्रन्थों के रचनाकार किसी अन्य भाषा के साहित्यकार से निश्चय ही गुरुतर हैं। इसी प्रकार महाकवि कालिदास अपनी रचनाओं की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। इस संदर्भ में अन्य रचनाकारों की भी लम्बी श्रृंखला है। इसी तरह जब हम हिन्दी भाषा की बात करते हैं तो प्राचीन हिन्दी ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो के रचनाकार सहित मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास, तुलसीदास आदि प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठतर है। आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जय शंकर प्रसाद, मुंशी प्रेमचन्द, आचार्य राम चन्द्र शुक्ल आदि ने जिन विधाओं को अपनाया, उन्हें पराकाष्ठा प्रदान की।

जय शंकर प्रसाद जैसे नाटककार एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे निबन्धकार किसी भी अन्य भाषा–साहित्य की इन विधाओं के रचनाकारों से उन्नीस नहीं है। इसी तरह उपन्यास एवं कथा साहित्य के क्षेत्र में मुंशी प्रेमचन्द अद्वितीय हैं जो मानवीय संवेदनाओं एवं भावनाओं के साथ ही सामाजिक मनोविज्ञान के कुशल चितेरे हैं। उन्होंने समकालीन भारतीय समाज के ताने–बाने तथा उसकी नब्ज को सही व सटीक ढंग से पहचाना तथा अपनी रचनाओं में उसे चरितार्थ करते हुये वास्तविक धरातल प्रदान किया।

मेरे उक्त विचारों का आशय निस्सन्देह यह नहीं है कि मैं आँख–मूँदकर अपने साहित्यकारों की प्रशंसा करते हुये उन्हें, अन्य गैर भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों की तुलना में अधिक प्रतिष्ठा प्रदान करूँ बल्कि इसका सीधा–सादा भाव यह है कि देश–काल व परिस्थितियों के अनुसार प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में प्रभावशाली रचनाकार हुए हैं। अतः उक्त भिन्नताओं के कारण इनकी आपस में तुलना न तो आवश्यक है न ही प्रासंगिक। किन्तु यदि किसी के लिए इनकी तुलना करना अपरिहार्य हो तो उस स्थिति में हिन्दी भाषा के साहित्यकार श्रेष्ठ हैं, इसमें सन्देह नहीं इसी परिप्रेक्ष्य में आधुनिक हिन्दी भाषा के साहित्यकारों से आग्रह होगा कि वे भी हिन्दी साहित्य को प्रतिष्ठा प्रदान करते रहेंगे।

एक और बात, अनेक स्वनाम धन्य साहित्यकारों की प्रामाणिक जन्मतिथि काफी प्रयास के बाद भी उपलब्ध नहीं हो पाती है, हम अपनी इस काव्य पत्रिका के माध्यम से ऐसे मूर्धन्य कवियों के भी सृजन का स्मरण करते हुये अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और भविष्य में इसे जारी रखेंगे।

इन्हीं भावनाओं के साथ अपनी बात को विराम देते हुये भविष्य के लिए आपके सुझाओं को आमंत्रित करता हूँ।

शुभ कामनाओं के साथ,

डा0 अनिल कुमार

बाबू जी, अब करो न देर

- डा. अनिल कुमार पाठक

सभी आत्मजन सिसक रहे,
कहने से कुछ भी हिचक रहे।
सुध–बुध खोकर, माता मेरी,
भैया–बहना बिलख रहे।

क्यूँ चुप हुये? मौन अब तोड़ो,
सुन इस पीड़ित मन की टेर।
बाबू जी, अब करो न देर।।

अपना दोष समझ ना पाये,
यमदूतों से उलझ न पाये।
क्रूर वक्त की यह बेइमानी,
कुछ भी हम सब समझ न पाये।

आर्त हृदय की पीड़ा हर लो,
दूर करो, कष्टों के ढेर।
बाबू जी ,अब करो न देर।।

तुम युग–पुरुष, अमर सरि धारा,
कालजयी व्यक्तित्व तुम्हारा।
प्रबल आत्मबल से आपूरित,
है, अखंड विश्वास हमारा।

कवलित काल करेगा, कैसे,
बन जायेगा, वह तव चेर।
बाबू जी, अब करो न देर।।

आखिर कैसी यह लाचारी,
सोच रही, अब दुनिया सारी।
सबके प्रेरक, पंथ प्रदर्शक,
हम सब हैं, तेरे आभारी।

कर्मयोग के पोषक बाबू,
समझूँ क्यों, किस्मत का फेर।
बाबू जी, अब करो न देर।।

❖❖❖

किसान

- पारस नाथ पाठक 'प्रसून'

ये भूखे जर्जर किसान,
बर्बर मानवता के निशान।
खेतों पर मेहनत करते ,
कड़ी धूप में जलते,
अपनी बहती स्वेद बूँद से,
खेतों का मृदु सिंचन करते।
केवल दो दाने को –
या धनपतियों की भूख मिटाने को।
पर बदले में यही त्याग,
बर्बर मानव का यही राग।

खूनों से होने दो आज फाग,
इनके बच्चों का यहीं साज।
इनके जीवन का यही राज,
'मरने दो भूखा, उसे आज।
निर्धन को मिलता यही ब्याज,
कैसा होता जीवन का वैभव–विलास।
महलों में कैसा होता हुलास,
ये अब तक जान न पाये,
केवल गम ही पाये।।

❖❖❖

भारत वर्ष

- महावीर प्रसाद द्विवेदी

जै जै प्यारे देश हमारे, तीन लोक में सबसे न्यारे ।
हिमगिरी–मुकुट मनोहर धारे, जै जै सुभग सुवेश।। जै जै भारत देश

हम बुलबुल तू गुल है प्यारा, तू सुम्बुल, तू देश हमारा।
हमने तन–मन तुझ पर वारा, तेज पुंज–विशेष।। जै जै भारत देश

तुझ पर हम निसार हो जावें, तेरी रज हम शीश चढ़ावें।
जगत पिता से यही मनावें, होवे तू देशेश।। जै जै भारत देश

जै जै हे देशों के स्वामी, नामवरों में भी हे नामी।
हे प्रणम्य तुझको प्रणमामी, जीते रहो हमेश।।जै जै भारत देश

आँख अगर कोई दिखलावे, उसका दर्प दलन हो जावे।
फल अपने कर्मों का पावे, बने नाम निःशेष।। जै जै भारत देश

बल दो हमें ऐक्य सिखलाओ, सँभलो देश होश में आवो।
सब के सब तेरे शैदाई, फूलो–फलो स्वदेश।। जै जै भारत देश

हिन्दू,मुसलमान, ईसाई यश गावें सब भाई–भाई।
सब के सब तेरे शैदाई, फूलों–फलो स्वदेश।। जै जै भारत देश

इष्टदेव आधार हमारे, तुम्हीं गले के हार हमारे।
भुक्ति–मुक्ति के द्वार हमारे, जै जै जै जै देश।। जै जै भारत देश

❖❖❖

नदी का रास्ता

- बाल कृष्ण राव

नदी का रास्ता किसने दिखाया ?
सिखाया था, उसे किसने–
कि अपनी भावना के वेग को–
उन्मुक्त बहने दे ?
कि वह अपने लिए
खुद खोज लेगी,
सिंधु की गंभीरता
स्वच्छेद बहकर ?

इसे हम पूछते आये युगों से,
और सुनते भी युगों से आ रहे उत्तर नदी का,
'मुझे कोई अभी आया नहीं था राह दिखलाने,
बनाया मार्ग, मैंने आप ही अपना।

ढकेला था शिलाओं को,
गिरी निर्भीकता से मैं कई ऊँचे प्रपातों से,
वनों में, कंदराओं में
भटकती, भूलती मैं
फूलती उत्साह से प्रत्येक बाधा–विघ्न को
ठोकर लगाकर, ठेलकर,
बढ़ती गयी आगे निरंतर
एक तट को दूसरे से दूरतर करती।

बढ़ी, सम्पन्नता के
और अपने दूर तक फैले हुए साम्राज्य के अनुरूप
गति को मंद कर–
पहुँची जहाँ सागर खड़ा था
फेन की माला लिए
मेरी प्रतीक्षा में।

यही इतिवृत्त मेरा–
मार्ग मैंने आप ही अपना बनाया था।
मगर है भूमि का दावा
कि उसने ही बनाया था नदी का मार्ग,
उसने ही चलाया था नदी को फिर
जहाँ, जैसे, जिधर चाहा
शिलाएँ सामने कर दीं
जहाँ वह चाहती थी
रास्ता बदले नदी,
जरा बायें मुड़े–
या दाहिने होकर निकल जाए,
स्वयं नीची हुई
गति में नदी के
वेग लाने के लिए,
बनी समतल
जहाँ चाहा कि उसकी चाल धीमी हो।
बनाती राह,
गति को तीव्र अथवा मंद करती
जंगलों में और नगरों में नचाती,
ले गई भोली नदी को भूमि सागर तक।

किधर है सत्य ?
मन के वेग ने
परिवेश को अपनी सबलता से झुकाकर–
रास्ता अपना निकाला था,
कि मन के वेग को
बहना पड़ा बेबस,
जिधर परिवेश ने झुककर
स्वयं ही राह दे दी थी ?
किधर है सत्य ?

❖❖❖

काँटे कम से कम मत बोओ !

- रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

यदि फूल नहीं बो सकते, तो काँटे कम से कम मत बोओ।
हे अगम चेतना की घाटी, कमजोर बड़ा मानव का मन,
ममता की शीतल छाया में होता कटुता का स्वयं शमन।
ज्वालाएँ जब धुल जाती हैं, खुल–खुल जाते हैं मुँदे नयन,
होकर निर्मलता में प्रशान्त बहता प्राणों का क्षुब्ध पवन।
संकट में यदि मुसका न सको, भय से कातर हो मत रोओ।
यदि फूल नहीं बो सकते, तो काँटे कम से कम मत बोओ।

हर सपने पर विश्वास करो, लो लगा चाँदनी का चन्दन,
मत याद करो, मत सोचो–ज्वाला में कैसे बीता जीवन।
इस दुनिया की है रीति यही–सहता है तन, बहता है मन,
सुख की अभिमानी मदिरा में जो जाग सका, वह है चेतन।
इसमें तुम जाग नहीं सकते, तो सेज बिछाकर मत सोओ।
यदि फूल नहीं बो सकते, तो काँटे कम से कम मत बोओ।

पग–पग पर शोर मचाने से मन में संकल्प नहीं जमता,
अनसुना–अचीन्हा, करने से संकट का वेग नहीं कमता।
संशय के सूक्ष्म कुहासों में विश्वास नहीं क्षण–भर रमता,
बादल में घेरों में भी तो जय–घोष न मारुत का थमता।
यदि बढ़ न सको विश्वासों पर, साँसों के मुरदे मत ढोओ,
यदि फूल नहीं बो सकते, तो काँटे कम से कम मत बोओ।

❖❖❖

बुलन्दी आसमानों की

– कमलेश भट्ट कमल

वो खुद ही जान जाते हैं बुलन्दी आसमानों की,
परिन्दों को नहीं तालीम दी जाती उड़ानों की।
अगर है हौसला तो मंजिलें भी हैं, कई राहें,
बहुत कमजोर दिल ही बात करते हैं थकानों की।
जिन्हें है सिर्फ मरना ही,वो बेशक खुदकुशी कर लें,
कमी कोई नहीं वर्ना है जीने के बहानों की।
महकना और महकाना है केवल काम खुशबू का,
कभी खुशबू नहीं मोहताज होती कद्रदानों की।
हमें हर हाल में तूफान से महफूज रखती है,
छतें मजबूत होती हैं उम्मीदों के मकानों की।

कहीं पर धर्म का संकट, कहीं ईमान का संकट,
समूचे देश में है इस समय पहचान का संकट।
पड़ोसी चैन से रहते हैं, सुख की नीद सोते हैं,
सियासत में है ये भी रोज पाकिस्तान का संकट।
वो जो भी देखता, सुनता है सब झूठा निकलता है,
कोई समझे भी उसकी आँख, उसके कान का संकट।
अमीरों पर मेहरबानी, गरीबों से है क्यों नफरत,
समझ में ही नहीं आता, कभी भगवान का संकट।
छुपाकर किस तरह रक्खे कहाँ, काली कमाई को,
गरीबों के शहर में है यही धनवान का संकट।
सभी नाविक लगे हैं यान को खुद ही डुबोने में,
समन्दर में कोई सुनता नहीं जलयान का संकट।

❖❖❖

चिड़िया

एक चिड़िया है,
चिड़िया के सामने एक खुला आकाश।
एक पूरी जिन्दगी,
चिड़िया हर बंधन के विरुद्ध है,
हर पिंजड़े के खिलाफ है।
चिड़िया खुले आकाश के लिए
पंख फड़फड़ाती है,
बाहर उसकी प्रतीक्षा में हैं–
पेड़–पौधे, मुंडेर और सपने,
मैं आश्वस्त हूँ
कि चिड़िया पिंजड़े के पार
खुले आकाश में इठलायेगी।
एक–न– एक दिन चिड़िया सखियों के संग,
धरती, आकाश, वनस्पतियों और सपनों से–
हिल–मिलकर अपना मुक्ति –पर्व मनायेगी।
अपने शब्दों और उमंगों पर देते हुए थाप
हम भी शामिल होना चाहेंगे, इस आयोजन में।

❖❖❖

आभामण्डल

– शिव कुमार पराग

बाहर निकल गये
एक–एक कर,
मेरे अंतस तक उतरे हुए लोग,
दबे पाँव बाहर निकल गये
क्योंकि एक–एक कर
मैं उनकी तह तक
पहुँच रहा था।
खुल रही थी उनकी कलई,
उतर रहा था सोने का पानी,
निस्तेज पड़ने लगा आभा मण्डल,
उजागर होने लगा उनका छल,
ऐसे में लोग डर गये
और घबराकर बाहर निकल गये।
सावधान!
साथी, सावधान!!
विवेक से काम लेना,
इन्हें मन के किसी कोने में जगह न देना,
क्योंकि बहुत खतरनाक होती है
मानसिक गुलामी।

❖❖❖

पांचाली

- डा. महेन्द्र प्रताप सिंह

धरती की पुरुष जाति सँभले,
तत्काल स्वयं को वह बदले ।
उपभोग मात्र की वस्तु नहीं–
मैं, कान खोलकर यह सुन ले।
बच्चों के हित सर्वस्व त्याग
मैं सुसंस्कार सृजन करती।
माँ के स्वरूप में प्रेम लुटा –
कर मैं सबकी पीड़ा हरती।
बन बहन भावनामूर्ति सरल
धागे की लाज बचाती हूँ।
मैं बहू रूप सेवा प्रतिमा,
अपने दुःख सहज पचाती हूँ।
बेटी बन, माता–पिता लाज–
की, आजीवन रक्षा करती।
विष पीकर स्वयं सतत, सबके–
जीवन पथ में अमृत भरती।
होता आया है पुरुष जाति–
का मुझ पर अत्याचार प्रबल।
सबने ही मुझको समझा है,
बस भोग वस्तु, कातर, निर्बल।
परिवर्तन नारी की पुकार,
अँगड़ाई अब ले रहा समय।
अब तेजपुञ्ज बन आऊँगी
मैं पुरुष बीच होकर निर्भय।

❖❖❖

क्या होगा

- शारदा प्रसाद शर्मा 'शारदेन्दु'

कवि सोंच रहा भयभीत हृदय में,
भविष्य देश का क्या होगा।
यदि जाति–धर्म में बँट गया मनुज,
तो हाल हिन्द का क्या होगा।

भेद–भाव के तीव्र ज्वाल में,
बाग–बन्धुता के उजड़े हैं।
उगी घृणा की घास घिनौनी,
सुमन एकता के बिखरे हैं।

यदि नफरत की दीवार न टूटी,
तो हाल हिन्द का क्या होगा?

लिये गोलियाँ बम बन्दूकें,
जनरल डायर घूम रहे हैं।
निर्दोष निहत्थी जनता को,
निर्दयता से भून रहे हैं।

जल्लाद–ससुर–घर,नवदूल्हन–
भय से मन में काँप रही है।
चिकवे के घर बँधी अजा सी,
जीवन के दिन काट रही है।

यदि दानव दहेज का का मरा नहीं,
तो हाल हिन्द का क्या होगा?

अनुदिन बढ़ रहे प्रदूषण से,
दूषित जल–थल–नील गगन है।
दूषित अन्न, समीर, सलिल भी,
दूषित खग–मृग–जन–जीवन है।

यदि बाढ़ प्रदूषण की रुकी नहीं,
तो हाल हिन्द का क्या होगा?

❖❖❖

मन भरा है पीर से, खाली नहीं है

- आर्य भूषण गर्ग

नेह का प्रतिदान दे पाए न तुम,पर, मन भरा है पीर से,खाली नहीं है
राह बाधाएँ भरीं, मंजिल अजानी,
जिन्दगी ज्यों अलिफ–लैला की कहानी।
जुल्म दुनिया के सहे चुपचाप लेकिन,
प्यार ने संसार से कब हार मानी।

राह अपनी ढूँढ़ लेंगे, पग स्वयं ही,
क्षितिज पर क्या भोर की लाली नहीं है।
मन भरा है पीर से, खाली नहीं है।।

स्वप्न धरती से बहुत हैं दूर साथी,
तुम उधर, मैं इधर हूँ, मजबूर साथी।
किन्तु झुठला कर सभी प्रतिबन्ध जग के,
मन न तुमसे हो सका है दूर, साथी।

तुम इसे ठुकरा न पाओगे कभी यूँ,
नेह की अभिव्यक्ति मतवाली नहीं है।
मन भरा है पीर से, खाली नहीं है।।

प्यार करके सिर्फ पीड़ा ही वरें, क्यूँ,
क्या कहेगा जग भला इससे डरें, क्यूँ।
सहमती साँसें, रुँधे स्वर, नयन गीले,
मुस्करा कर मृत्यु से पहले मरें, क्यूँ।

लाख संघर्षों भरी हो जिन्दगी, पर–
मृत्यु तुम–सी रूठने वाली नहीं है।।

नेह का प्रतिदान दे पाए न तुम पर, मन भरा है पीर से, खाली नहीं है।

❖❖❖

'कितनी सुन्दर है'

- बैजनाथ गुप्त 'ब्रजेन्द्र'

आज निशा, कितनी सुन्दर है।
यह यामा तमसावृत तन की,
चन्द्रवती हो हँसी विभा से–
सृष्टि और सौन्दर्य आज है,
एक रूप शिव और शिवा से–
देखो तो रज और रजत में आज नहीं कुछ भी अन्तर है।
आज निशा कितनी सुन्दर है।।
मौन इधर से उधर सभी कुछ,
डूबा हुआ एक जादू में।
पृथ्वी की प्रतिभा से पादप–
लगते, सरस्वती के चूमे।
आज सजल इस नीरवता में वाणी की वीणा का स्वर है।
आज निशा कितनी सुन्दर है।।
सोये हुये विश्व के ऊपर,
रूप आज खुल कर खेला है।
जागृति और नींद दोनों में,
आज एक स्वप्निल बेला है।
आज महल से झोपड़ियों तक बिछी हुई सुषमा घर–घर है।
आज निशा कितनी सुन्दर है।।
आज कलाधर निष्कलंक है,
किसी सहज सज्जन के उर सा।
प्रतिबिम्बित सम्पूर्ण धरातल,
निर्विकार आलोक–मुकुर सा।
यह अनन्त आकाश सदा से आज सुभग है,सुन्दरतर है।
आज निशा कितनी सुन्दर है।।

❖❖❖

हिमपात

- सिद्धेश्वर पाण्डेय

उस खौफनाक–
हिमपात के बाद,
ढक गये थे, सारे रास्ते–
एक साथ। सहसा,
सुन्न और सफेद हो गये थे,
चिड़ियों के पंख,पेड़ों के पत्ते और घोसले।

जब जमने लगा था कुदाल थामें हाथों का रक्त,
तुमने घाटियों में प्रतिध्वनित होती, गूँजती,
टंकारती आवाज में कहा था–
'बरफ' डरने की चीज नहीं।
खून की गरमाहट देखते–देखते गलाकर रख देती हैं,
इसकी शक्ल और इसके आतंक।

मौसम साक्षी है,
बिल्कुल सच थी, तुम्हारी बात–

पर आज जब तुम बदले हुये मौसम का–
विजय– ध्वज फहराने में लगे हो।
क्या तुम्हें खबर है?
तुम पर ही गिर रही है,
बेशुमार बरफ,
अपनी सारी सफेदी के साथ।

❖❖❖

नवीन हुए

पथ में रथ कच्छप जैसे चले,
सब अश्व नियंत्रणहीन हुए।
कर चाबुक की फटकार मिली,
बिन भोजन क्षीण मलीन हुए।
हर पंथ में घूस की खाई मिली,
सब चालक घूस प्रवीन हुए।
रथ जीर्ण हुए, हम दीन हुए,
रथ चालक और नवीन हुए।

बलि का बकरा

बिजली मँहगी, जल भी मँहगा,
कोयले का अकाल पड़ा हुआ है।
रथ और खजूर हैं ईद के चाँद,
सुवर्ण अकाश चढ़ा हुआ है।
सुर साधे हुए सब खाद्य–अखाद्य,
विकास में ताला जड़ा हुआ है।
हर व्यक्ति घिरा तनी कीमतों से,
बलि के बकरे सा खड़ा हुआ है।

❖❖❖

नदी

– नरेन्द्र मिश्र

निज यौवन से मदनान्ध भरी,
अपने गुण–गौरव गा रही हो।
नवजीवन किन्तु मलीन ही है,
अभिशाप ही साथ में ला रही हो।
दृग मूँदे हुए रणरंगिन सी,
कितने तट त्याग के आ रही हो।
नव फूलों में आग लगाती हुई,
बरसाती नदी कहाँ जा रही हो।

भरमाये हुए

तरु फूले–फले, नभ चूमते हो,
सुख से मन को बहलाये हुए।
हरियाली मिली यदि सावन से,
बहको न चलो इतराये हुए।
मन में विष, वाणी में वारुणी है,
सबके सब हैं अजमाये हुए।
पतझार में साथी न कोई यहाँ,
तुम व्यर्थ में हो भरमाये हुए।

दिगंबर

- अशोक वाजपेयी

(1)

जो दिगंबर है
शब्द नहीं है,
जब कुछ नहीं है ऊपर देह के
तो शब्द भी कैसे–कहाँ होंगे?

(2)

शब्द नहीं देख पाते देह,
शब्द नहीं छू पाते देह को,
शब्द नहीं नियराते देह के।

(3)

वह अपूर्व उपस्थिति,
वह दमकती लुनाई, वह कोमल आभा,
वह अंगों का ईंगुर,
वह लपक, वह शांत विकलता,
वह दीपशिखा की रौशन जलन,
वह हरी घास,वनस्पतियों का स्पंदित एकान्त,
वह मनोरम दग्धता,
वह लज्जा से नहीं, गोरोचन से नहीं,
कामना से अरुणाभ हुआ शरीर,
वह जगमगाहट, वह निर्धूम उज्जलन,
वह संकोच को रौंदता हुआ
अचानक–सा खुल गया,
इच्छा का गुनगुनाता हुआ चौगान।

वह शब्द के आकाश से दूर और शब्द–अछूता,
एक दिगंबर अंतरिक्ष, एक प्रफुल्लकाश वसुधा।

(4)

वह बाँहों के घेरे में, शब्दों के नहीं –
उसके कत्थई कुचाग्र , उसके ओठों के बीच,
शब्दों के नहीं,
वह उस पर मदनारूढ़, शब्दों पर नहीं।

(5)

उसने कहा–
यहाँ भी शब्द – यहाँ तो सिर्फ मैं हूँ।
शब्द छोड़कर तुम मेरे साथ नहीं हो सकते।

❖❖❖

एक मंदिर की कथा

- अरुण कमल

किसी विधवा देवी के प्रायश्चित–
का प्रतीक बहुत पुराना मंदिर हूँ मैं।
दीवारें काली हैं,काई से,
भीतर भींगा अंधेरा स्थिर अडोल घंटी,
एक शंख जहाँ शेष है साँस का पानी।
एक ही पदचाप की परिक्रमा सुबह शाम,
और अंधेरे में कभी–कभी पीछे देहों की परिक्रमा।
घंटियाँ बजतीं,
एक पुराना मंदिर,
बूढ़े पाकुड़ के नीचे,
एक बहुत बूढ़ी नदी के किनारे।

लकड़ी के टुकड़े की कथा

चाहता था जलूँ तो
केवल रोशनी हो।
धधाती लपट,
धुआँ न कालिख न राख,
जलने के बाद लगे कुछ था ही नहीं,
बस थोड़ा–सा ताप भू पर।

और हुआ क्या
समूचा घर भर गया धुएँ से,
लोग आँख नोचते खाँसते बाहर भागे।
इतनी कालिख थी
और पता नहीं कहाँ से इतनी राख।

क्या इसलिए मैं बहता रहा इतने दिन,
एक तट से दूसरे तट।

❖❖❖

कोकिल

- महावीर प्रसाद द्विवेदी

कोकिल अति सुंदर चिड़िया है,
सच कहते हैं, अति बढ़िया है।
जिस रंगत के कुँवर कन्हाई,
उसने भी वह रंगत पाई।
बौरों की सुगंध की भाँती,
कुहू–कुहू यह सब दिन गाती।
मन प्रसन्न होता है सुनकर,
इसके मीठे बोल मनोहर।
मीठी तान कान में ऐसे,
आती है वंशी–धुनि जैसे।
सिर ऊँचा कर मुख खोलै है,
कैसी मृदु बानी बोलै है ।
इसमें एक और गुण भाई,
जिससे यह सबके मन भाई।
यह खेतों के कीड़े सारे,
खा जाती है बिना बिचारे।

❖❖❖

हम हैं किशोर

- राम स्वरूप दूबे

भावी भारत की लिये डोर,
हम हैं किशोर, हम हैं किशोर ।

बीते दिन हाथ पकड़ने के,
अब नहीं सहारा तकते हैं।
बीते दिन गिर–गिर उठने के,
अब उछल–कूद कर सकते हैं।

अब लम्बी दौड़ लगाते हम,
बहुतों को खूब छकाते हम,
दर्शक कर उठते तभी शोर,
हम हैं किशोर, हम हैं किशोर !

नव ज्ञान बढ़ाया है हम ने,
चन्दा मामा को जान गये।
उसके फोटो हैं देख लिये,
नभ के ग्रह को पहचान गये।

हर ग्रह के खोजी बने हुए,
उड़ते हैं, सीने तने हुए,
हम नापेंगे सब ओर–छोर,
हम हैं किशोर, हम हैं किशोर !

भावी भारत के नेता हैं,
हम देश–प्रेम में पगे हुए।
प्रहरी हम जन्म–भूमि के हैं,
हम सावधान, हम जगे हुए।

मजहब की राहें हैं अनेक,
फिर भी हम रहते सदा एक,
हम ही लायेंगे नयी भोर ।
हम हैं किशोर, हम हैं किशोर ।

❖❖❖

अमीर

किसी आरामगाह में–
हवा की तरह आसानी से बहता है तुम्हारा जीवन।
एक समुद्र की तरह भरा हुआ जिसके–
जलचर उसे कष्ट नहीं पहुँचाते।
कोमल घास और गुलदान भारी परदों के बीच–
खामोश पड़े रहते हैं।
दूसरी जगहें अँधेरी होती हैं–
यहाँ की रोशनियों के बरक्स।

कोई घृणा नहीं करता तुमसे–
क्योंकि अमीरी भी उसी तरह वरदान हैं,
जैसे गरीबी अभिशाप।

फुरसत का एक खाली कमरा
हर वक्त तुम्हारे पास होता है।
भर सकते हो उसे तुम किसी वासना,
शराब या हँसी से पैसों के एक बड़े जंगल में,
खोती रहती है तुम्हारी आत्मा।
तुम कर नहीं सकते किसी दुख का इजहार–
क्योंकि भूख और जमीन से बाहर के दुखों पर–
कोई नहीं करता विश्वास।

हरगिज यह तुम्हारा पक्ष लेना नहीं है–
जब तक चीजें साफ नहीं हैं,
जब तक पैसा बड़ा है आदमी से –
और बड़ी है भूख और रहनुमाई ।
एक निश्चिंतता जो तुम्हारे सपनों में सोती है,
वह दरअसल एक परेशानी है।
तुम दिवालिया हो जाओ तो सुखी होंगे लोग–
सिर्फ इसी कारण।

छोटे झूठ

– अनीता वर्मा

छोटे झूठों से दुनिया चलती है।
शातिर, झूठों के ये सेवक–
मदद करते हैं जीवन के झूठ की।
हम कहते रहते हैं अपनों से अच्छा–सा कुछ,
खुद से भी कुछ वैसा ही–
भीतर अँधेरा इकट्ठा होता है।
बाहर दुनिया में होता रहता है, सूर्योदय।

यह एक नाजुक हथियार है हमारे पास।
हम कामयाब हैं कि हमने बड़े–बड़े झूठ कहे नहीं।
उनसे नहीं हुआ किसी का नुकसान,
इसके बिना नहीं बनती पहचान।
यह एक जरूरी तरतीब है।
ये अच्छे लोग हैं–
जिन्होंने खास नहीं की राजनीति।
विश्वास इससे टूटा नहीं।

❖❖❖

सांध्य-दीप

- श्रीमती प्रतिभा पुरोहित

दीपित होकर,
अंधकार हरता है।
रोशनी फैलाकर–
जग को रोशन करता है।
वह एक समय है,
अतीत–वर्तमान भविष्य की–
तराजू पर तुलता है।
वह एक बच्चा है,
तुतलाहट बिखेरता है।
वह एक संभावना है,
हर एक बात को–
संभव करने को–
बाध्य है।
वह एक स्नेह है–
जो हर पल लुटाता है।
एक जीवन है,
जिन्दगी का मापदण्ड है–
जो सत्य को मापता है।
सांध्य–दीप,
संध्या का दीपक है–
जो वक्त की देहरी पर,
तुलसी के चौबारे पर,
रात के अंधकार से–
हरदम उड़ने को तैयार है।
वह एक अर्ध्य है,
मूरत के आगे रखने का।
विश्वास का प्रतीक,
साक्षी है जीवन का,
समय का।
सम्भावना है अतीत की
जिन्दगी है, जीवन है।

❖❖❖

सूखती नदी के बीच

- प्रभा मजूमदार

ठहरी हुई
चट्टानों से गुजरकर–
एक नदी आगे बढ़ती है,
वक्त की।
अन्तहीन/अनिश्चित यात्रा की ओर–
रचती है इतिहास।
भूगोल की रेखाएँ,
अनजाने/अनचाहे,
गंदे और प्रदूषित नालों को–
आत्मसात करने की
विवशता के बावजूद
उसकी भरसक कोशिश।
उजला रंग
और पारदर्शी चरित्र–
बनाये रख सकने की–
विकास की यात्रा में
एक सदी।
अपने चेहरे पर की
तमाम कालिख
नदी की पवित्रता को
सौंप कर,
निष्कलंक हो जाना चाहती है,
जहर उगलते धुएँ के बीच
अनुष्ठान सा कुछ रच के
अपने भीतर की दुविधा से
मुक्ति चाहती है...
बदरंग होते पानी में
खत्म होते वनस्पतियों के
दुःख से आहत
सूखती है नदी,
और उसके बीच
उग आते हैं–
कितने रेतीले टापू
और देखते ही देखते
बहती हुई नदी की जगह
कंटीले रेगिस्तान
बसते जा रहे हैं–
मेरे इर्द– गिर्द।

❖❖❖

पुरखों की वसीयत

- प्रो. मालती दुबे

आज पुनः
अश्रु लिए सो रही हूँ –माँ,
वे तो सुदूर तारों के बीच
छिपे हैं,
भला मैं कहाँ छिपूँ माँ ?
उनका आश्वासन मुझे,
विजय रथ की ओर
इंगित करता है।
तुम आज भी याद आती हो माँ
तुम्हारे दिए संस्कार
बच्चों में उड़ेल दिए हैं।
बस! मुझे मौन रहने की शक्ति
देती रहना,
सभी अहम ईर्ष्या का
दुर्भाव न आने देना,
अन्यथा तुम्हारा स्नेह
बह जायेगा,
ममत्व निस्तेज हो जायेगा।
और
तब
पुरखों का वसीयत
कुम्हलाती देख
मेरी आँखें
झुक जायेंगी।

❖❖❖

माँ तू निराश न होना

- श्रीमती नुकफांगटी जमातिया

माँ जा रहा हूँ अपने वतन के लिए,
कर सकूँ कुछ देश की रक्षा के लिए।
जानता हूँ तुम्हारा हृदय दर्द से भर उठेगा,
हृदय में आशंकाओं का ज्वार भी उठेगा।
पर कभी तू यह न करना,
मुझे रोकने को ममता का जाल न फैलाना।
बस दुआ कुछ ऐसी करना,
हौसले को मेरे तू बुलंद करना।
देख माँ तू निराश न होना।
हो सकता है मैं लौट न पाऊँ,
देश के खातिर शहीद हो जाऊँ।
पर मेरे लिए न अश्रु बहाना।
दिल को अपने तुम दिलासा दिलाना।
जब कभी मेरी याद आए,
देख माँ तू निराश न होना।
जानता हूँ तू उदास होगी,
मुझ बिन घर की रौनक न होगी,
ये आँगन और बाड़ी सब चुप होंगी,
हर तरफ वीरानी सी होगी।
पर रौनक के लिए तुम कुछ ऐसा करना,
घर के दहलीज पर रोज एक दीया जलाना,
मैं रहूँ न रहूँ इतना जरूर तू याद रखना।
देख माँ तू निराश न होना।

❖❖❖

क्या है ?

- श्रीमती अंजना जमातिया

मुझे नहीं पता,
यह प्रेममय छत्रछाया–सा–
आकाश कितने रंगों से बना है ?
मुझे नहीं पता,
वाद्य–से–
संगीतमय झरने का अंत कहाँ है?
मुझे नहीं पता,
धैर्यवान माता–स्वरूप–
धरती की सीमा क्या है?
मुझे नहीं पता,
खों–खों करता,
मार्क्सवाद क्या है ?
मुझे नहीं पता,
भौं–भौं करता,
पूँजीवाद क्या है ?
मुझे नहीं पता
है–है करता,
समाजवाद क्या है ?
मुझे पता है–
घीसू और माधव ने
आग,
आलू मुँह में क्यों डाला।
मुझे पता है...
वह क्यों पत्थर
तोड़ती है।
मुझे पता है...
नेता जी
हैं–हैं कर
क्यों हँसते हैं।
मुझे पता है...
आत्माराम की
मृत्यु कैसे हुई।

❖❖❖

हमारा भारत

- झील दीक्षित

देश हमारा सबसे प्यारा,
प्यार देश महान।
सब जग की आँखों का तारा,
अपना हिन्दुस्तान।

विद्युत उत्पादन और लौह निष्पादन में,
समर्थ है हमारा भारत,
तरह–तरह के खनिजों की खोज–
करता हमारा भारत।

कल–कल करती बहती गंगा–
है तो, बड़ी प्यारी।
यमुना, कृष्णा और कावेरी–
भी है, बड़ी न्यारी।

लाल किले के ऊपर ध्वज–
लहराता दिखता हमको,
स्वतंत्र भारत के बारे में–
समझता हमको।

भारत को प्रख्यात बनाता,
आगरा को अभिमान कराता।
अजायबी में स्थान है पाता,
ताजमहल का वो खजाना।

सदियों से भारत की प्यारी,
सबको भाती, देव भाषी।
सब भाषा की वह है रानी,
'संस्कृतभाषा' हमारी सयानी।

❖❖❖

प्रकृति

- पलक अग्रवाल

सुबह जो जागी,
देखा, क्या देखा?
गोल चीज चमकी,
स्वर्ण की तरह लगा।

आवाज आई चिड़ियों की,
कर रहे थे प्रणाम सूर्य को।
इनकी दोस्ती है पक्की।

एक बड़ी लंबी चीज,
नीचे से भूरा तो ऊपर से हरा,
मैंने देखा कि उन पर चिड़ियों का था घोसला।

नदी में मछलियों का झुंड–
है, बड़ी प्यारी छोटी सी,
तैर–तैर कर घूमती फिरती इधर।

ऊपर जो देखा था आसमान,
जितना करीब जाओ उतना,
दूर हो जाए।

पक्षियों को देखो उड़ते,
लगते कितने प्यारे।
कभी धीमी, कभी तेज,
विभिन्न आवाज निकालते।

रात हुई तो देखा,
एक भी चिड़िया न थी,
सिर्फ झन–झन की आवाज।

तारे दिखे छोटे पर हैं बहुत बड़े,
काले आसमान में कितने प्यारे लगते,
ये सफेद तारे।

बड़ा सफेद गोला,क्या है ?
सही कहा, चंदामामा,
जो सबकी बात सुने,
तारों के साथ खेले भी।

सबके दुलारे चंदामामा।
भगवान ने हर तरह के रंग–रूप,
दिए प्रकृति को,
तो मत करो इसका गलत इस्तेमाल।

❖❖❖

सुन्दर अपना संसार

– ऊषा मिश्रा

ईश्वर ने दिया हम इन्सानों को उपहार, जिससे बना सुंदर अपना संसार।
इतनी शांत होते हुए भी कितना कुछ कह जाती है प्रकृति,
हर पल दर कदम सुधार देती है ये हमारी गलती ।
वो झरनों का गिरना, सिखलाता है गिरकर संभलना।
वो पंछियों का सुबह–सुबह उड़ना –
सिखाता हमें है,
महत्व काम को देना।
क्या कहता है ये सूरज? उठो, चमको, खुद जलो दूसरों को रोशनी देना।
वो फल के साथ पेड़ों का झुकना, सिखाता है औरों के लिए जीना।
वो नदी का समदंर में मिल जाना,
कहे बड़ों के लिए
खुद को न्योछावर कर देना।
कितना कुछ सिखाती है ये प्रकृति,
हर बार अपनी याद दिलाती है प्रकृति।
आज हम हैं कल कोई और होगा, पर ये जग जहाँ है, वैसा ही रहेगा।
कहेगा, हर बार लो सीख मुझसे,
न करो तकरार, रहो एकजूट दिल से।
चट्टान सा बलवान बनो तो जानें, तूफान सा गतिमान बनो तो जानें,
पेड़ काटना, जीव मारना सबको आता है,
अपने हाथ से एक चिड़िया जीवित करो तो जानें...!

❖❖❖

मातृत्व

- विद्या तिवारी

डालो विहंगम दृष्टि जग,
सोचो अतल गहराइयों में।
कौन सर्जन कर रहा है,
इस मधुर परिवेश का।

लो गोद शिशु आसन्न प्रसवा,
भूलती निज क्लेश को।
पशु – पक्षि गण भी कर रहे,
निबहि निज मातृत्व का।

मातृत्व का लेकर सहारा,
सृष्टि क्रम चलता सदा।
है सृष्टि क्रम से चल रहा,
जग कार्य सब निर्बाध सा।

निर्बाध चलते देख जग को,
यह बिचारे हम सभी।
माता–पिता मेरे यही,
जिनसे जगत यह चल रहा।

करते प्रकृति अरु पुरुष,
संयोजन अचर–चर सृष्टि का।
विद्या बने मधु मास मधु,
बनती बंसत ऋतम्भरा।

❖❖❖

समुद्र और उपहार

- मृदुला शुक्ल

किसी ने पूछा मुझसे
क्या लायें समुद्र से तुम्हारे लिए।
चौंकी मैं
और सोचने लगी–
कहाँ समुद्र की अपूर्व निधियाँ,
कहाँ तुच्छ उपहार की बात,
समुद्र तो स्वयंमेव देता है,
अनगिनत सुखद–शाश्वत अनुभूतियाँ।
समुद्र के पास जाकर भी
जो इन्हें पा न सका,
बड़ा अभागा होगा वह।
मैंने कहा
उमंग और आशा,
उदारता और दीवानगी
साथ ही अनोखा संयम,
ला सकी तो लाना,मेरे समुद्र से।
उसे मेरा कोटि–कोटि प्रणाम देना
और कहना न भूलना
मेरा यह सन्देश,
जल्द बुला ले मुझे
अपनी उत्ताल तंरगों
और विशाल परिधि के पास।
क्योंकि भेज दिया
स्वार्थों की अंधड़ भी
संकीर्णता की मरुभूमि में,
तुमसे मिली ऊर्जा और साहस
चुक चला है अब।
मैं हारने लगी हूँ मेरे समुद्र
पर इस तरह हारना भी
तनिक नहीं भाता मुझे,
लगता है इस तरह
तुम्हें,
तुम्हारी देन को
अपमानित कर रहीं हूँ मैं।
इसलिए
या तो मुझे अपने पास बुला लो
या भेज दो
शुभ भावों का नया उपहार–
ताकि नये सिरे से
कठिन संघर्षों में
जीवन जीने में समर्थ हो सकूँ मैं।

❖❖❖

जीवन क्या है

- डा.अमिता दुबे

जीवन क्या है–
एक कविता, कहानी
समीक्षा या रिपोतार्ज
कुछ पता नहीं।

शायद आकाश में उड़ती कविता है,
कभी प्रहार करती कहानी,
कभी साफ–सुथरी समीक्षा–

और
कभी मूक–बधिर रिपोतार्ज।
सब कुछ कितना–
अपना, कितना स्वप्निल सा।

जीवन स्वप्न है
तो सत्य क्या है?
शायद स्वप्न की खोज
आत्म विस्मृति, आत्म चिंतन,
आत्म संघर्ष, आत्म पतन,
सब कुछ कितना–
टूटा–बिखरा फेनिल सा।

जीवन आत्म पतन है–
तो उत्कर्ष क्या है–
शायद,
बढ़ता हुआ उत्साह,
टूटते–बनते सम्बन्ध,
सम्बधों की गहराई,
अपना–पन,दीवाना–पन–

और,
बहुत कुछ जो शब्दातीत है–
सब कुछ कितना–
सहज–पृथक, उर्मिला सा।

❖❖❖

नायिका

- अर्चना झा

मेरे मन के भीतर है,
एक नायिका।
वह, जो मन को ईर्ष्या से खींचकर,
प्रेम के जल से सींचकर,
क्रोध और उत्तेजना की अग्नि को
कर देती है, शांत।
वह जो एक प्रेमिका है,
कोमल है, भावुक है,
प्रेम निवेदिका है।
वह जो चंचल है, भोली है,
ग्रामीण बाला जैसी–
पागल है,मदमत्त है।
स्वयं एक मधुशाला जैसी,
यथार्थ को पीछे छोड़कर,
समय से भी आगे,
संपूर्ण काया जब सो जाती है,
वह जोगिनी तब भी जागे।

❖❖❖

खुशी

– चंद्रलेखा सिंह

हँसने के लिए मुँह खुला है,
तो रोना आ गया,
आदत ही नहीं है हँसने की,
पर अब रोने से भी ऊब गया।

खुशबू

बातों में बंद खुशबू,
इस तरह रहती है कि करो बात,
तो लगता जैसे कहीं इत्र की नदी बहती है।

अपनी राह

जिंदगी को छोड़ दो,
समय की गाड़ी पर, अपनी राह पकड़,
यह पहुँच जाएगी अपनी मंजिल पर।
झरने की अल्हड़ता,
जैसे राह बना लेती है अपनी पत्थरों को ठेलकर।

❖❖❖

मेरा देश तुम्हें नमस्कार

– मनोहर कुमार झा

निर्भय कानन, अक्षय, सुंदर,
दिव्य हिमालय भाल।
गौरव गरिमा गाती गंगा–
करती, जय जयकार।
हे इन्दिरा ! तुम्हें नमस्कार।

दिव्य दीप्त सकल मनोहर,
अनुनय, हुंकार विश्व–विदित।
सबल अयाची, जन दधिचि सदिस,
सुन्दरवन सम आँचल तेरा, हरा–भरा संसार।
हे अंब ! तुम्हें नमस्कार।

कद्धुआते, तृण निहारते,
कुसुम सँवारते, तीर तलाशते।
दूब, धान, विधि विधान,
हरित कलेवर, पुरेण समान।
हिन्द तुम्हें नमस्कार।

❖❖❖

सागर तभी उछलता है

– प्रीतम सिंह राही

चिंतन तब ही शेयरों में बदलता है।
जज्बे के टकसाल में अक्षर ढलता है।

सच की जोत जला कर चलना पड़ता है,
अंधेरे में कहाँ कोई सूरज जलता है।

बीच गगन के गहर जब तक बाकी है,
घोंसलों में से पंछी नहीं निकलता है।

सूरज जैसा ख्याल जब भी आता है,
रोशनी से अंधेरा डरता टलता है।

पास चाँद के उस का कुछ तो गिरवीं है,
इतना ऊँचा सागर तभी उछलता है।

कंधों पर लटकाये दिन

लोगों के हमसाये दिन।
अपने लिये पराये दिन।

रोजी से रोटी का रस्ता,
काट रहें हैं आये दिन।

जीवन की चौखट के ऊपर,
बने मौत के साये दिन।

लोगों के फिर जाते होंगे,
अपने तो पथराये दिन।

मकड़ी के जालों के जैसे,
चौगिर्दे हैं, छाये दिन।

हो जाये वह सदियों जैसा,
जो हम को न भाये दिन।

दिल करता है कहीं फेंक दें,
कंधों पर लटकाये दिन।

❖❖❖

जीवन दृष्टि

- सुनीत गोस्वामी

माना कि आकाश से तारे तोड़ पाना मुश्किल है।
पर फूल खिलाना बगिया में अड़चन क्या है?
संघर्ष से उपजती हैं पीड़ाएँ घनी,
जिन्दगी इक खेल है, यह मान लेने में
दिक्कत क्या है?
खेल में जीत हो या पराजय, फिर भी–
रहता संतोष और उत्साह तो है,
संघर्ष तोड़ देता है, जीवन की शक्ति को,
हताशा–निराशा का प्रस्तोता है।
कब तक जीतेगी जिंदगी इस खेल में,
आखिर, हम भी जीतेंगे कभी इस उमंग में।
मृत्यु–दस्तक नहीं लगेगी भयावह,
मृत्यु के बाद भी जिंदगियाँ मिलती रहेंगी,
और यह खेल भी चलता रहेगा।

❖❖❖

अद्वितीय युग्म

- श्रीराम वर्मा

एक था किशोर
और एक थी किशोरी–
परस्पर अपरिचित
कभी देखा तक न था,
एक दूसरे को।
कोई नहीं जानता था दोनों के घर
और उनकी दूरियाँः
खुद वे भी परस्पर नहीं अकेले–अकेले जरूर।
एक दिन अजब हुआ,
वे दो दिशाओं से उड़ते हुए–
रेत की तरह आकर, इस तरह–
एक दूसरे की पीठ से सट गए अपने आप।
दोनों की पीठ की खालें जलतीं,
अजब रासायनिक आँधी में–
इस कदर गल गईं।
कि वे परस्पर विपरीतमुख
सुन्न हो गये एकपीठ।
उन्होंने एक दहला देने वाली आवाज–
सुनी थी, पहली बार–
बिल्कुल पास से बहुत दूर तक–
जाने कहाँ तक।
जमीन से उठता आसमान तक–
खिलता, प्रदीप्त धूल और धुएँ का–
रंगा–रंग फूल देखा था–पहली बार,
विराट–विभ्राट एक फूल।
तब से दोनों साथ हैं,
एक दूसरे को न देख सकते हैं,
न जी सकते हैं, एक दूसरे को,
वे सहवासी हैं, सहवासहीन।
(वे आदम और हौवा की संतानें हैं, ऊँटजादा–
ऊँटजादीनहीं)
एक चलता है, आगे,
दूसरे को चलना पड़ता है, पीछ–
उलटे।
वे सुनते हैं, समझते हैं,
बेबसियाँ, एक दूसरे की जानते, जीते–
जीने की तानते ।
औरों की, अपनों की,
सपनों की जानते बेबसियाँ।
काल उन्हें चला रहा है –
धीरे–धीरे, मंद–मंद
किंतु वे अमंद तेजतर तानते,
जीने को तानते,
जितना ही जानते।
जानते हुए जीने को,
उनकी मनोशारीरिक समस्याएँ–
कितनी बताएँ, कैसे गिनाएँ?
टेस्ट–ट्यूब बेबी अभी फलें–फूलें,
मंच पर आएँ वैज्ञानिक, तनिक वे ही बता दें,
हम भी तो जानें–
उन्होनें भी क्या कोई सेब खाया था?

❖❖❖

पुनर्जीवन

- विमल कुमार

वह आदमी अपनी मृत्यु के बाद–
यूँ ही एक दिन घूमता–घामता घर आया,
तब कोई नहीं था घर में,
गये थे, सारे लोग, बाहर किसी काम से।
दरवाजा खोलने के बाद–
वह जंग लगे ताले को देखकर,
सोचने लगा–काफी गलतियाँ हो गईं उससे अपने जीवन में।
कहीं कुछ भूल गया,
कहीं कुछ चूक गया,
तस्वीर जब देखी उसने,
कोठरी में अपनी।
सोचता रहा,
भूरे रंग का कोट उसे नहीं पहनना चाहिए था,
इस उम्र में।
उस पर चौखानेवाली कमीज तो बिल्कुल नहीं फबती थी।
बालों में इस तरह तेल लगाकर,
उसे पीछे की तरफ नहीं मोड़ना चाहिए था।
चश्मे का फ्रेम–
थोड़ा और पतला होता,
तो ज्यादा ठीक होता।
अपनी मृत्यु के बाद
उसे अपने घर का एकांत इतना सुंदर लगा
कि वह बार–बार आता रहा–
चुपके से।
पढ़ता रहा, अपनी पुरानी डायरियाँ,
उसमें उसे काफी मजा आया।
कई जगह गलत हिज्जों पर उसका ध्यान गया,
फलां शब्द का प्रयोग उचित नहीं जान पड़ा,
कई पन्नों पर वाक्य–विन्यास उसे पसंद नहीं आए।
अब वह लिखता–
तो शायद दूसरी तरह की भाषा होती।
एक दिन शाम को
वह अपने घर आया,
तो उसे यह भी लगा–
कमरे में कई चीजें बेतरतीब ढंग से रखी थीं, उसने जीवन भर। मसलन यह मेज दीवार की बाईं तरफ होती,
तो बेहतर होता और धूप भी छनकर आती,
चौकी को आगे भी खिसका कर रखा जा सकता था,
कमरा बुहारना आसान होता पत्नी के लिए।
फिर उसने अपनी पत्नी के बारे में सोचा–
कई बार न्याय नहीं किया उसके साथ–
जबकि अन्याय का कोई इरादा नहीं था, उसके मन में।
क्या उसमें कोई और रंग वह डाल नहीं सकता था?
अगर विसर्जित कर देता खुद को।
एक दिन घर में कोई नहीं था, रोज की तरह,
पर आईने में चेहरा झाँक रहा था, पत्नी का।
धूल, उस पर जमी थी,
बाल पक गए थे, असमय,
दीवार पर टँगे कैलेंडर में–
उसकी लड़कियाँ थीं,
पर हँसी उनकी गायब थी।
कुर्सी पर रखे खिलौने के भीतर उसका थका हुआ लड़का था।
पैरों में शायद छाले थे, उसके,
यह अदृश्य– दृश्य–
देखकर उसे रहा नहीं गया,
छलछला आईं आँखें, उसकी।
वह काफी बेचैन हो गया,
फिर से जिंदा होने के लिए,
वर्षों पुराने अपने घर में।

❖❖❖

बाल कृष्ण राव

जन्म - 1913 निधन - 1975

कुछ भी न कहा,
जब तक सह सका,
बिन बोले सहा-
और जब सहा न गया
कहना तब चाहा,पर
कहा न गया,

जो जितना जान सका
उतना ही बखान सका-
कौन भला
नीचे जा
चेतना के निम्नतम छोर से,
कर सका पीड़ा का तलस्पर्श
भाषा की अधबटी डोर से?

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

जन्म - 1 मई 1915 निधन - 12 अक्टूबर 1995

मत टूटो ओ मेरे जीवन के संचित सपने मत टूटो!
तुमने ही मेरे प्राणों को जलने की रीति सिखायी है,
तुममें ही मेरे गीतों ने विश्वासमयी गति पायी है।
मेरे डूबे-डूबे मन का तुम ही तो ठौर-ठिकाना हो,
मेरी आवारा आँखों ने तुमसे ही लगन लगायी है।
काँटों से भरी विफलता में आधार न जीने का लूटो।
मत टूटो ओ मेरे जीवन के संचित सपने मत टूटो।।